नक्सलवाद : मर्ज़ बढ़ता ही गया...

मर्ज़ बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की। सरकार नक्सलवादी आंदोलन को जितना दबाने का प्रयास कर रही है, वह उतनी ही और तेज़ी के साथ बढ़ता ही जा रहा है। गत एक दशक में नक्सलवाद से निपटने का सरकार का कोई प्रयास कारगर नहीं हो पा रहा है। ऐसा लगता है कि 'नक्सलवादी समस्या' से निपटने की कोई स्पष्ट नीति का सरकार के पास अभाव है। नक्सलवाद को देश की आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा मानने वाली सरकार को यह समझ में ही नहीं आ पा रहा कि इस समस्या का कैसे समाधान करे।

वह कभी इस समस्या पर काबू पाने के लिए सेना लगाने की बात करती है(तमाम अर्द्धसैन्य बलों और सिर्फ़ नक्सलवाद पर काबू पाने के लिए गठित कोबरा को तो लगा ही रखा है) तो कभी 'विकास कार्य' करने की बात करती है तो कभी नक्सलियों से वार्ता करने का प्रस्ताव रखना चाहती है, पर जुझारू नक्सलवादियों को रोकने के लिए कुछ भी नहीं कर पाती है। नक्सलवादी हिंसा से ग्रस्त राज्यों की पुलिस, तमाम अर्द्धसैन्य बल और विशिष्ट बल पीठ दिखा कर भागने को विवश हो रहे हैं और नक्सलवाद का दिन-दूनी, रात-चौगुनी तेज़ी से प्रसार होता जा रहा है।

एक के बाद एक राज्यों में नक्सलवाद का आधार मजबूत होता जा रहा है, एक से एक बड़े बुद्धिजीवी और प्रोफेशनल कहे जाने वाले लोग़ों की सहानुभूति भी इसके प्रति बढ़ती जा रही है और वे खुल कर अथवा छुप कर इसका समर्थन और सहयोग करते चले आ रहे हैं। पिछले दिनों दिल्ली में कोबाड घांदी की गिरफ़्तारी से भी यह पता चलता है कि नक्सलवादी नेतृत्व का स्तर क्या है।

आज नक्सलवाद का प्रभाव देश के पंद्रह राज्यों के सैंकड़ों ज़िलों में हो चुका है। दूरस्थ जंगलों-पहाड़ों को पूरा कब्ज़ाने के बाद अब इनकी घुसपैठ आधुनिकतम कहे जाने वाले क्षेत्रों में भी हो चुकी है और लगातार जारी है। यह देख कर कि नक्सलवाद देश की राजधानी दिल्ली के दरवाजे पर पहुंच चुका है, शासकों के हाथ-पांव भय से फूलते जा रहे हैं और वे कुछ भी नहीं कर पाने की अपनी बेबसी को छुपा पाने में असमर्थ होते जा रहे हैं। इसीलिए वे ले-दे कर इस समस्या से निपटने के लिए दमन के यंत्र को ही और मजबूत बनाने की कोशिश कर रहे हैं, पर भ्रष्टाचार और अराजकता का शिकार हो चुके शासन-प्रशासन तंत्र के कारण सरकार के लिए दमन-यंत्र को भी चला पाना संभव नहीं हो पा रहा है।

ऐसा नहीं है कि सरकार इस बात को समझ नहीं पा रही है कि नक्सलवाद है क्या और क्यों इसका उभार इतनी तेज़ी के साथ हो रहा है। सरकार में नक्सलवाद को समझने के लिए एक से एक विद्वान और 'मर्मज्ञ' लोग़ भरे पड़े हैं, लेकिन इसे समझ कर वे और भी ज़्यादा आतंकित ही हो सकते हैं जितने कि अभी हैं। सरकारी तंत्र में लूटमार और भ्रष्टाचार का ऐसा नंगा और अनियंत्रित नाच चल रहा है कि कोई कुछ भी न करे तो भी यह व्यवस्था अपने ऊपर बढ़ते बोझ से चरमरा रही है, पानी गले तक आ पहुंचा है। एक ओर विकास

"आज नक्सलवादी आन्दोलन का नेतृत्व कोबाड घांदी जैसे लोग़ कर रहे हैं जो विदेशों में उच्च शिक्षा प्राप्त हैं और जिनके पास धन-धान्य की कोई कमी नहीं थी। वे चाहते तो ज़िंदगी भर मौज उड़ा सकते थे, पर एक राजनीतिक विचारधारा उन्हें जंगलों और पहाड़ों में बसने वाले आदिवासियों तक ले गई। ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं है, साथ ही उन नेताओं की भी कोई कमी नहीं है जिन्होंने सत्ता के उच्चतम सोपानों तक पहुंच कर जनता के धन की खुली लूट से अपना घर भर लिया और अपनी सात पीढ़ियों के लिए भी धन स्विट्ज़रलैंड के गुप्त बैंक खातों में रखवा दिया। जहां तक दमन से नक्सलवादियों को कुचलने का सवाल है, यह संभव नहीं। ऐसा इसलिए कि पुलिस और अर्द्धसैन्य बलों के सिपाही नक्सलियों के साथ जूझ कर जान देना और 'शहीद' कहलवाना नहीं चाहते।"

की सपनीली बातें हो रही हैं और तथाकथित 'विकास' हो भी रहा है, पर दूसरी तरफ भूख की ज्वाला धधक रही है। देश की 80 फ़ीसदी आबादी रोज-ब-रोज लुट रही है, पिट रही है और सुरसा के मुंह की तरह बढ़ती महंगाई के कारण अपने लिए जानवरों जैसा भोजन भी जुटा पाने में असमर्थ होती जा रही है, वह आखिर क्या करे?

यह सवाल आज के समय का सबसे धधकता हुआ सवाल बन गया है। पहाड़ों और जंगलों में, ग्रामीण बस्तियों और कस्बाई इलाकों में इस लुटती-पिटती 80 प्रतिशत आबादी को नक्सलवादियों के नारों में अपनी मुक्ति दिखाई पड़ रही है तो वह क्यों नहीं उनका समर्थन करे और उनके लिए अभेद्य सुरक्षा कवच बन जाये। इस हकीक़त को पक्ष और विपक्ष के लगभग सभी लुटेरे नेता शायद समझ पा रहे हों, लालू प्रसाद यादव जैसे जोकरनुमा नेताओं को छोड़ कर जो यह कहते हैं कि जैसे जयप्रकाश नारायण ने चंबल के बीहड़ों में रहने वाले डाकुओं का हृदय परिवर्तन और शस्त्र त्याग करवाया था, वैसा ही नक्सलवादियों के साथ भी किया जाना चाहिए। यह मूर्खतापूर्ण और हास्यास्पद बात है। सच्चाई यह है कि डाकुओं, आतंकवादियों और नक्सलवादियों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क है। नक्सलवादियों का एक राजनीतिक सिद्धांत है और वे व्यवस्था परिवर्तन की बातें करते हैं, वे उन लोग़ों के हित की बातें करते हैं जो सदियों से शोषण और दमन के चक्रों से जूझ रहे हैं, पर निरंतर आगे बढ़ती समाज व्यवस्था में उनका दमन-चक्र और भी मजबूत हुआ है। ऐसी बात नहीं कि इसे शासक वर्ग नहीं समझ रहा है। अगर नहीं समझ पा रहा होता तो प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह यह कहने के लिए मजबूर नहीं हुए होते कि 'नक्सलियों की एक राजनीतिक विचारधारा है, यह बात अलग है कि दिन-ब-दिन उसका प्रभाव कम होता जा रहा है।' कम कहां होता चला जा रहा है? वह तो बढ़ता ही चला जा रहा है, तेज़ी से और लगातार।

आज नक्सलवादी आन्दोलन का नेतृत्व कोबाड घांदी जैसे लोग़ कर रहे हैं जो विदेशों में उच्च शिक्षा प्राप्त हैं और जिनके पास धन-धान्य की कोई कमी नहीं थी। वे चाहते तो ज़िंदगी भर मौज उड़ा सकते थे, पर एक राजनीतिक विचारधारा उन्हें जंगलों और पहाड़ों में बसने वाले आदिवासियों तक ले गई। ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं है, साथ ही उन नेताओं की भी कोई कमी नहीं है जिन्होंने सत्ता के उच्चतम सोपानों तक पहुंच कर जनता के धन की खुली लूट से अपना घर भर लिया और अपनी सात पीढ़ियों के लिए भी धन स्विट्ज़रलैंड के गुप्त बैंक खातों में रखवा दिया। जहां तक दमन से नक्सलवादियों को कुचलने का सवाल है, यह संभव नहीं। ऐसा इसलिए कि पुलिस और अर्द्धसैन्य बलों के सिपाही नक्सलियों के साथ जूझ कर जान देना और 'शहीद' कहलवाना नहीं चाहते। वे रोटी के लिए और परिवार पालन के लिए सरकार की नौकरी कर रहे हैं, न कि मुफ़्त में जान देने के लिए, वहीं नक्सली कोई भाड़े पर नहीं लड़ रहे, बल्कि एक 'राजनीतिक उद्देश्य' के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं, यह बात अलग है कि उनके राजनीतिक उद्देश्यों से कोई सहमत हो या असहमत।

□ प्रतिनिधि

लिब्राहान आयोग की रिपोर्ट का कोई औचित्य नहीं

17 साल में 11 करोड़ रुपये खर्च कर बाबरी मस्जिद ध्वंस की जांच करने वाले लिब्राहान आयोग की कथित लीक रिपोर्ट में ऐसा कुछ भी नहीं है जो पहले अज्ञात रहा हो। रिपोर्ट में आडवाणी और भाजपा व विश्व हिंदू परिषद् के बड़े-बड़े नेताओं के साथ बाबरी मस्जिद के ध्वंस के लिए अटल बिहारी वाजपेयी को भी ज़िम्मेदार ठहराया गया है। बाबरी मस्जिद ध्वंस को लेकर भाजपा और संघ परिवार ने 'राजनीति' का जैसा खेल खेला, उसमें बर्बादी के सिवा और कुछ नहीं मिला, सिवा इसके कि इसी ध्वंस के परिणामस्वरूप भाजपा दो-तीन प्रयासों के बाद केंद्र में सत्ता में आ सकी। लेकिन सत्ता में आने के पहले उसे अयोध्या में राममंदिर के मुद्दे को छोड़ना पड़ा। इस वजह से विश्व हिंदू परिषद् के साधु-संन्यासी भाजपा से दूर होते चले गये। संघ सत्ता में आने के लिए कुछ भी कर गुजरने की भाजपा की नीति का समर्थन करता रहा, पर बाबरी मस्जिद के ध्वंस को ग़लत ठहराने वाले आडवाणी जब गैर-सांप्रदायिक राजनीति के खेल में जिन्ना की प्रशंसा तक करने लगे, तब संघ ने अपनी आंखें तरेरीं। आडवाणी को इसी वजह से भाजपा का अध्यक्ष पद छोड़ना पड़ा, पर आज भी भाजपा में अध्यक्ष नहीं रहने के बावजूद उनकी कद-काठी का कोई नेता नहीं है।

भाजपा को बाबरी मस्जिद के ध्वंस का क्या लाभ मिला, इसे इसी बात से समझा जा सकता है कि आज भाजपा सत्ता संघर्ष में पीछे चली गई है। भाजपा के पास कोई मुद्दा नहीं रह गया है। वैचारिक दृष्टि से वह कितनी कमजोर पार्टी है, यह स्पष्ट हो चुका है। गत लोकसभा चुनाव में उसके पास आडवाणी प्रधानमंत्री पद के प्रत्याशी, इसे छोड़ कर और कोई मुद्दा नहीं रह गया था। अब भाजपा का कोई नेता अयोध्या में राममंदिर की बातें नहीं करता। हां, जहां अवसर देखते हैं, वहां धीमे स्वरों में यह कहने से बाज़ नहीं आते कि अयोध्या में मंदिर बन कर रहेगा। लेकिन कट्टर से कट्टर हिंदू भी अब भाजपा पर इस बात के लिए विश्वास नहीं करता कि वह राममंदिर निर्माण का आंदोलन फ़िर छेड़ेगी। राम मंदिर के मुद्दे पर भाजपा पिट चुकी है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया है कि हिटलरवादी राजनीति इस देश में नहीं चल सकती। जहां तक लिब्राहान आयोग की रिपोर्ट का सवाल है तो अब यह पूरी तरह से अप्रासंगिक है, क्योंकि इसने देर की इंतहा कर दी। समझने वाले लोग़ों के लिए यह समझना कठिन नहीं रहा कि बाबरी मस्जिद के ध्वंस के लिए आडवाणी ज़िम्मेदार थे कि अटलबिहारी वाजपेयी या संघ के सरकार्यवाह। खास बात तो यह है कि जो प्रत्यक्षत: दोषी थे और जिन पर कानून-व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व था, वे इस्तीफ़ा देकर भाग निकले थे। पकड़ना उन्हें चाहिए था और उन सारे नेताओं को जो मंच पर बैठ कर कार सेवकों को भड़काने वाले भाषण दे रहे थे। अगर उस वक्त केंद्र सरकार में इतनी हिम्मत होती तो फ़िर भाजपा के सारे बड़े-बड़े नेता अंदर थे, साधु-संन्यासी अंदर थे, पर केंद्र सरकार ने उस वक्त घर फूंक तमाशा देखने वाली नीति अपना ली थी। बाबरी मस्जिद के ध्वंस के पीछे कांग्रेस की भी कोई निष्क्रिय ही सही, भूमिका थी, इस पर लिब्राहन जांच रिपोर्ट में क्या कुछ विचार किया गया है? अगर भाजपा ने बाबरी मस्जिद के ध्वंस की साजिश रची थी और उसे योजनाबद्ध तरीके से पूरा किया था, तो भाजपा नेताओं की पकड़-धकड़ का इंतज़ाम केंद्र सरकार ने क्यों नहीं किया? क्यों भाजपा, विहिप और संघ के नेताओं को छुट्टा छोड़ दिया? क्या आग और भी भड़काने के लिए? क्या दंगों की राजनीति को जारी रखने देने के लिए? इन सवालों का जवाब कांग्रेस नेतृत्व के पास न तो तब था और न ही अब है। इस बात को भूला नहीं जा सकता कि अयोध्या में राममंदिर और बाबरी मस्जिद ध्वंस की राजनीति के लिए कांग्रेस भी जिम्मेदार है। जहां तक रिपोर्ट का सवाल है, यह गड़े मुर्दे को उखाड़ने जैसा है। इस जांच रिपोर्ट के लिए इतना समय और पैसा खर्च करना व्यर्थ रहा। जांच में कोई नयी बात तो निकल कर आनी नहीं थी, और जहां तक ध्वंस के लिए दोषियों के नामोल्लेख का सवाल है, उन्हें पकड़ कर सजा दे पाना इस सरकार के वश की बात नहीं है। फ़िर रिपोर्ट का क्या औचित्य?

□□ मनोज कुमार झा

भाजपा में अध्यक्ष पद का संकट

भाजपा में अध्यक्ष कौन बनेगा, इस पर विवाद थम नहीं रहा है। कई नाम आते हैं और फ़िर विवादों में घिर जाते हैं। महाराष्ट्र के गडकरी के नाम की चर्चा हुई तो बहुत से लोगों ने पहली बार यह नाम जाना। अरुण जेटली, सुषमा स्वराज आदि की चर्चा अभी भी चल रही है। अनंत कुमार के नाम की भी चर्चा है। वेंकैया नायडू कहीं भी चर्चा में नहीं हैं, पर उन्होंने घोषणा कर दी है कि वह अपनी 'हनुमान' वाली भूमिका छोड़ेंगे नहीं। कुछ लोग़ गुजरात नरेश के नाम की चर्चा करते हैं, पर उनसे जुड़े हुए सूत्र साफ़-साफ़ मना कर देते हैं। गुजरात नरेश अपनी जगह पर टिके रहेंगे, राष्ट्रीय राजनीति में धक्के खाने पड़ते हैं। दरअसल, भाजपा अब पतनोन्मुख है। यह ठीक है कि वह मुख्य विपक्षी पार्टी है, पर राष्ट्रीय राजनीति में इसके लिए अब विशेष संभावनायें नहीं हैं। भाजपा में युवा पीढ़ी का कोई ढंग का नेतृत्व उभर नहीं पाया। बात अटल से आडवाणी पर आ कर टिक गई। इस बार प्रधानमंत्री पद का प्रत्याशी बन कर पिट जाने वाले आडवाणी में अब वह दम-खम नहीं है कि वे अगले पांच वर्षों तक इंतज़ार कर सकें। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को राजनीतिक संगठन अवश्य चाहिए, इसलिए मोहन भागवत मरी-पड़ी सी भाजपा में नई जान फूंकना चाहते हैं, पर यह काम संघ का कोई 'चिंतक' नहीं कर सकता। इसके लिए नित नये रणकौशल अपनाने वाले खुर्राट नेता की जरूरत है जिसका अकाल भाजपा में हो गया है। लेकिन अध्यक्ष तो किसी न किसी को बनना ही है। भाजपा ऐसी पार्टी नहीं जो सुप्रीमों आदि के आधार पर चलती हो। परिवारवाद की भी कोई गुंजाइश नहीं। बहरहाल, जो भी अध्यक्ष बने, पार्टी पर अभी आडवाणी की पकड़ रहेगी। आडवाणी की नेतृत्व को नेतृत्व देने वाली भूमिका खत्म नहीं हो सकती।

□ मनोज